वैदिक शिक्षाव्यवस्था एवं उपनयन

(श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र)

भारत पुरातन कालसे ज्ञानप्राप्तिद्वारा आध्यात्मिक उन्नतिको ही अपना ध्येय समझता आया है। अपने उन्नत ध्येयके कारण इसे समस्त देशोंका गुरु कहा जाता था। मनुने स्पष्टरूपसे कहा कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः[1]॥

अर्थात् पृथिवीपर निवास करनेवाले समस्त मानव इस पुनीततम भारतमें प्रादुर्भूत ब्राह्मण बालकसे अपने-अपने धर्म एवं चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें। आज भी इस गवेषणाप्रधान युगमें भारतीय आर्योंकी शिक्षाके मूल स्रोत वेद-शास्त्रोंके अतिरिक्त कोई भी ग्रन्थ पुरातन सिद्ध नहीं हो सका है। आर्य वेदको उच्चतम आदर्श ग्रन्थ मानते हैं। आर्योंके अनुसार तो वेद अनादि हैं[2]। पाश्चात्त्य शिक्षाविद् भी इसे विश्वका सर्वप्राचीन ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।

वेद—शास्त्रोंमें वेदका बहुत महत्त्व है। वेद वस्तुतः आदरणीय एवं प्राणिमात्रकी सर्वतोमुखी उन्नतिका उपदेशक, शिक्षाका अनुपम कोष ग्रन्थ है। अत्यन्त प्राचीन कालमें वेद एक ही था। प्रत्येक द्वापरयुगके अन्तमें भगवान् वेदव्यास कलियुगीय मानवोंकी मन्दबुद्धि एवं अल्पजीवनको देखकर एक वेदको चार भागोंमें विभक्त कर देते हैं[3]। जिनको क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद कहा जाता है[4]। प्रत्येक वेदमें कई शाखाएँ होती हैं[5]। वेदोंके दो विशेष विभाग हैं, जिनको 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' शब्दोंसे अभिहित किया जाता है[6]। पूर्वजोंसे जिस वेदशाखाका अध्ययन-परम्परा समागत हो, उस कुलका वह वेद कहलाता है[7]। यद्यपि सम्प्रति कुलपरम्पराद्वारा प्राप्त वेदोंका अध्ययन समाप्तप्राय हो चला है, तथापि अपनी पितृपरम्परासे जिस वेदशाखाका अनुयायी होना ज्ञात हो तथा जिस वेदशाखाके अनुसार अपना उपनयन-संस्कार हुआ हो, उस वेदका अध्येता स्वयंको मानना चाहिये। यदि किसी कुलमें अशिक्षा या अज्ञानवश अपने कुलपरम्परागत वेदका स्मरण नहीं हो पाता है तो उसे शुक्लयजुर्वेदीय एवं माध्यन्दिनशाखीय समझना चाहिये। प्राचीन भारतमें वेदकी शिक्षा प्रत्येक द्विजके लिये अनिवार्य थी[8]। वैदिक शिक्षाद्वारा ज्ञानका विकास कर व्यक्ति आत्मोन्नतिके पथपर अग्रसर होता था।

ज्ञानप्राप्ति—ज्ञानके स्वरूपका विवेचन भारतीय शास्त्रोंमें विभिन्न रूपोंमें किया गया है। ज्ञान अनुपम आनन्दमय पुनीत ज्योति है[9]। हृदयके अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेका एकमात्र साधन ज्ञान है; परंतु इस ज्ञानज्योतिके किंचिन्मात्र लाभके आनन्दमें ही जिसको थोड़ा-सा प्रकाश प्राप्त हो जाता है और जो संतुष्ट हो जाता है, वह अपने ज्ञानकी इयत्ताको न जान सकनेके कारण उन्मत्त हो जाता है। उन्मादके कारण वह स्वयंको तत्त्ववेत्ताओंसे भी उन्नत समझ लेता है। ऐसे उन्मादावस्थावाले व्यक्तियोंको ही दृष्टिमें रखकर ज्ञानप्राप्तिकी अवस्थाओंका वर्णन भर्तृहरिने अत्यन्त ललित शब्दोंमें इस प्रकार किया है—

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित् किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः[10]॥

अर्थात् 'जब मैं बिलकुल ही अज्ञ था तब मदोन्मत्त हाथीके समान अभिमानमें अंधा होकर अपनेको सर्वज्ञ समझा करता था, परंतु अब पण्डितोंकी संगतिसे अल्पज्ञानके होते ही वह सब उन्माद जब ज्वरके वेगकी तरह शरीरसे निकल गया तब मैं अपने-आपको मूर्ख समझने लगा हूँ।'

वस्तुतः विनम्र जिज्ञासु संयत व्यक्ति ही ज्ञानोपदेश-का पात्र—अधिकारी होता है[11]। अधिकारी होनेपर उसे तत्त्ववेत्ताओंसे सुखका मूल ज्ञानरूपी धन प्राप्त होता है। इस ज्ञानात्मक अक्षय धनका उपयोग वह अपने जीवनमें करता है तथा अपने अस्तित्वको धारण कर स्थिर रखनेवाले धर्म (आत्मा)-को प्राप्त करता है। आत्मसाक्षात्कारसे अत्युत्तम

१-मनु०स्मृ० (२। २०)।
२-अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा (म० भा० शा० प० २३२। ३५)।
३-श्रीमद्भागवत (१२। ६। ४६-४७)।　४-श्रीमद्भागवत (१। ४। २१-२२)।　५-श्रीमद्भागवत (१। ४। २३-२४)।
६-मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् (प्र० परि० १। २, आप०परि० ३१)।
७-परम्परागतो येषांवेदः सपरिबृंहणः। तच्छाखं कर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं यथा॥ (वी०मि०सं०प्र०, वसिष्ठोक्ति, पृ० ५०५)
८-स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (श० ब्रा० ११। ५। ७। १०)।　९-गीता (४। ३८)।　१०-नीतिशतक (८)।
११-निरुक्त (२। ४। १)।

आनन्द एवं सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है। इस महत्त्वपूर्ण ज्ञानके लाभोंको समझाने-हेतु ही संक्षेपमें कहा गया है कि—

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम्[१]॥

अधिकारी सत्पात्रको विद्या देनेसे ही विद्याकी पुष्टि होती है। जिज्ञासा एक पिपासा है तथा ज्ञान पुष्टिकारक सुखद अमृतस्वरूप है। पिपासुकी पिपासा शान्त होनेपर सुख होता है।

ज्ञानरूपी ज्योति गुरुसे ही प्राप्त होती है। गुरु उदयकालिक सूर्यके समान आनन्दमय एवं अमृतमय ज्ञानस्रोतका उद्गम-स्थान है। गुरुसे विद्या या ज्ञानप्राप्तिके तीन साधन शास्त्रोंमें प्रतिपादित किये गये हैं। वेदके अङ्ग शिक्षाशास्त्रकी भाषामें वे तीनों साधन सेवा, धन और विद्या नामसे प्रतिपादित हैं[२]। श्रीमद्भगवद्गीतामें इन तीनोंमें उत्तरोत्तरको प्रशस्त बतानेके लिये प्रणिपात (विनम्रता), परिप्रश्न (विद्या) तथा सेवा—यह क्रम रखा गया है[३]। गुरुकी आभ्यन्तरिक पूर्ण इच्छा न रहनेपर भी धनके लोभसे उपदिष्ट विद्याकी अपेक्षा शिष्यद्वारा पूर्वपरिज्ञात विषयके कथनानन्तर जिज्ञासा करनेपर उपदिष्ट परिप्रश्नरूप विद्याका महत्त्व अधिक है। जैसे धनके लोभवश गुरुकी स्वार्थपरायणतासे विपर्यय एवं अपने आत्मानुभवका उपदेश न करना सम्भव है, उसी प्रकार धनदातृत्वके अहंकारसे शिष्यद्वारा उसे ग्रहण न करना भी सम्भव है; परंतु प्रश्न होनेपर उपदिष्ट गुरुवचनोंमें यथार्थ आत्मानुभवका समावेश अवश्य रहता है। इस परिप्रश्नमें ज्ञानार्थीको भी विद्यासे सम्पन्न होना आवश्यक है। अतः शिक्षाविदोंने इस उपायको '**विद्यया विद्या**' शब्दसे व्यवहृत किया है। इस द्वितीय परिप्रश्नात्मक ज्ञानार्जनोपायकी अपेक्षा सेवास्वरूप तृतीय साधन अति प्रशस्त है। सेवात्मक साधनमें अपनी ग्रहणशक्तिके ज्ञानाभिमानमें अथवा उत्तरदाताके प्रतिष्ठा-प्रभावके कारण शिष्यद्वारा न समझनेपर भी स्वीकार कर लेना आदि परिप्रश्नके दुर्गुणोंका समावेश नहीं है। सेवासाधनमें तो '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**'[४] के अनुसार गुरुमें पितृत्वकी भावना होती है। वस्तुतः वह विद्या-गुरुके वात्सल्यका प्रतीक है। धनदाता एवं जिज्ञासु शिष्यकी अपेक्षा सेवक विद्यार्थी गुरुसे अधिक विद्या-सम्पत्ति ग्रहण कर सकता है तथा उन दोनोंकी अपेक्षा उसकी विद्या अधिक सफल बन जाती है[५]।

उपर्युक्त तीनों साधनोंसे गुरुके द्वारा विद्या प्राप्त की जाती है। प्राचीन कालमें विद्या गुरुमुखसे सुन लेनेपर विद्यार्थियोंको ही नहीं, प्रत्युत गुरुकुलमें स्थित पक्षियोंको भी कण्ठस्थ हो जाती थी[६]। परंतु समयके प्रभावसे शिक्षार्थियोंकी धारणामें ह्रास होने लगा। उस समयको ग्रन्थ-रचनाका प्रारम्भिक काल कहा जा सकता है, क्योंकि गुरुजनोंने ग्रन्थोंका प्रणयन किया, तदनन्तर उन प्रणीत ग्रन्थोंको लिपिबद्ध किया गया। इसके फलस्वरूप ग्रन्थोंके अध्ययनके लिये अक्षर-परिचय आवश्यक हो गया। अतः अक्षरोंका परिचय प्राप्त करनेके लिये अक्षरारम्भ नामक कार्य निश्चित किया गया। अक्षरारम्भ बालकके पाँचवें वर्षमें शुभ मुहूर्तमें सविधि सम्पन्न होता है[७]। अक्षरोंके दृढ़ परिचय एवं लेखनका पूर्ण अभ्यास हो जानेपर शुभ दिनमें विद्याग्रहणका कार्य प्रारम्भ होता है।

भारतीय साहित्यमें अनेक विद्याएँ हैं तथा सभी महत्त्वपूर्ण हैं, परंतु देश, धर्म एवं समाजके उन्नयनकी दृष्टिसे उन सभी विद्याओंमें वेदविद्याका महत्त्व सर्वाधिक माना गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने स्पष्टरूपसे यह बतलाया है कि द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)-के बालकका यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह जीविका आदि किसी बाह्य उद्देश्यसे निरपेक्ष होकर (धर्म, भारतीयता एवं संस्कृतिकी वास्तविक रक्षा तथा बाह्य सांस्कृतिक आक्रमणोंके निराकरणके लिये) षडङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष)-सहित वेदका अध्ययन (एवं उसके मर्मको समझकर तदनुकूल आचरण) करे[८]। मनुने तो भारतके त्रैवर्णिकको वेद न पढ़नेपर अत्यन्त निन्दित माना है तथा कहा है कि 'जो द्विज वेदाध्ययनके बिना अन्य विद्याको पढ़नेमें श्रम करता है, वह जीवित ही दासताको प्राप्त हो जाता है। मात्र वही नहीं, अपितु उसकी संतति भी दासताकी भावनासे ग्रस्त हो जाती है[९]।' राजर्षि मनुका

१-हितोपदेश (६)।
२-गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा। अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नोपपद्यते॥ (या० शि० ११२)
३-तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया (गीता ४। ३४)। ४- गीता(२। ७)। ५-या० शि० (११०-१११)।
६-जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः संसारिकैः पञ्जरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणा वटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किताः॥ (कादम्बरी कथामुख १२)।
७-मु० चि० (५। ३७)। ८-निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च (महाभाष्य)।
९-योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ (मनु० स्मृ० २। १६८)

उद्घोष बहुत उग्र है, परंतु वस्तुतः कटु सत्य है।

अध्ययन—यों तो विद्याध्ययन सर्वदा ही किया जा सकता है, तथापि शास्त्रकारोंने जीवनके प्राथमिक चतुर्थांशको विद्याध्ययनके लिये परम उपयुक्त समझकर इसे विद्याध्ययनके लिये ही निश्चित कर दिया है। आयुके इस भागकी संज्ञा आगम-काल है[१]। अध्ययनके सुचारु सम्पादनके लिये 'उपनयन' नामक संस्कार निश्चित किया गया है। उपनयन-संस्कारका समय जातिभेदसे भिन्न-भिन्न माना गया है। त्रैवर्णिक बालकको पाँचवें वर्षमें ज्योतिष-शास्त्रानुसार शुभ दिनमें अक्षरारम्भ कराना चाहिये। वर्ण-परिचय तथा लेखन-ज्ञान प्राप्त करनेके बाद शुभ मुहूर्तमें विद्याध्ययन प्रारम्भ करना चाहिये[२]।

संस्कार—जिस प्रकार अनेक रंगोंके उचित उपयोग करनेपर चित्रमें सुन्दरता, आकर्षण एवं पूर्ण वास्तविकता आ जाती है, उसी प्रकार शास्त्रोपदिष्ट अनेक संस्कार करनेसे पुरुषकी बुद्धि और मनमें सात्त्विकता एवं सर्वजनप्रियताका संचार होता है तथा उसको वास्तविक सुख-शान्तिके पथका अनुभव होता है[३]। शास्त्रोंमें संस्कारोंकी संख्या बहुत है,[४] तथापि विद्वानोंने प्रधानरूपसे सोलह संस्कार माने हैं। इन सोलह संस्कारोंके नाम हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, केशान्त, विवाह (गृह्याग्नि), अग्निपरिग्रह तथा अन्त्येष्टि। कतिपय स्थलोंपर त्रेताग्निपरिग्रहको सोलहवाँ संस्कार माना गया है। इन संस्कारोंसे चित्तशुद्धि एवं आध्यात्मिक उन्नति होती है। संस्कार्यकी अपनी वेदशाखाके अनुसार ही संस्कार किये जाते हैं[५]।

उपनयन—त्रैवर्णिकके मुख्य संस्कारोंमें सर्वप्रथम संस्कार 'उपनयन' है। उपनयन-संस्कार होनेपर ही त्रैवर्णिक बालक द्विज कहलाता है[६]। शास्त्रोंका मत है कि इस संस्कारसे बालकका विशुद्ध ज्ञानमय जन्म होता है। इस ज्ञानमय जन्मके पिता आचार्य तथा माता गायत्री हैं[७]। जिस प्रकार अच्छे बीजसे अच्छे अन्नकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार इस ज्ञानमय जन्ममें अच्छे विद्वान्के आचार्य रहनेपर कल्याणदायक शुद्ध भावना-बुद्धिद्वारा विशुद्ध ज्ञान होता है। महर्षि आपस्तम्बने भी इस तथ्यको स्पष्ट लिखा है—**'तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते यश्चाविद्वानिति हि ब्राह्मणम्[८]।'** अर्थात् जिसका अविद्वान् आचार्य (गुरु)-के द्वारा उपनयन-संस्कार कराया जाता है वह अन्धकारसे अन्धकारमें ही जाता है। अतः कहा गया है—

'तस्मिन्नभिजनविद्यासमुदेतं समाहितं संस्कर्तारमीप्सेत्।' 'अविच्छिन्नवेदवेदिसम्बन्धे कुले जन्म अभिजनः। षड्भिरङ्गैः सहैव यथावदर्थज्ञानपर्यन्तमधीतो वेदो विद्या[९]।'

अर्थात् वेद एवं वेदी (यज्ञों)-से सम्बन्धित कुलमें जन्म लेनेवाले, षडङ्गों एवं मीमांसाशास्त्र आदिके अध्ययनद्वारा वेदार्थके परिज्ञाता तथा विहित-निषिद्ध कर्मोंमें सावधान आचार्यको उपनयनमें अपना उपनेता—गुरु बनाना चाहिये।

गोभिल स्मार्तकल्पके भाष्यकार नारायणने एक वचन उपस्थित कर यह बतलाया है कि इस उपनयन-संस्कारद्वारा त्रैवर्णिक बालक अपनी कर्तव्य-शिक्षाके लिये गुरु, वेद, यम, नियम एवं देवताओंके समीप ले जाया जाता है, इसलिये इस संस्कारको उप (समीप)-नयन (ले जाना) कहते हैं[१०]। प्राचीन समयमें उपनेता गुरुओंके पास शिष्यगण ब्रह्मचर्यपूर्वक कई वर्षोंतक अध्ययन करते थे। उपनीत बालकको गुरुकुलवास तथा अध्ययन करनेसे शास्त्रों एवं अपने धर्मका पूर्णरूपेण परिज्ञान हो जाता था। जिसके फलस्वरूप वह विशुद्ध ज्ञान उपार्जित करके सांसारिक कार्योंको करते हुए भी अपने देशकी आध्यात्मिक शान्तिके उन्नत लक्ष्यको प्राप्त करता था। उपनयन-संस्कारके लिये शास्त्रोंमें मुहूर्त निर्दिष्ट किये गये हैं। मुहूर्तका तात्पर्य है कि अध्येताकी आधिदैविक परिस्थिति (जन्मकालिक ग्रहस्थिति)-से उस समयकी आधिदैविक परिस्थिति अनुकूल बन सके, जिससे उसका अध्ययन सकुशल, निर्विघ्न एवं परिपुष्ट हो सके।

उपनयनके काल—ब्राह्मण-जातिका गायत्री छन्दसे सम्बन्ध है[११]। गायत्री छन्दका एक पाद आठ अक्षरोंका

१-चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति (महाभाष्य)।

२-मु० चि० (५। ३८)।

३-चित्रकर्म यथानेकै रङ्गैरुन्मील्यते शनैः। ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥ (प्र० पा०, पृ० ३, अङ्गिरावचन)।

४-गौ० ध० (१। ८। १४—२२)। ५-स्वे स्वे गृह्ये यथा प्रोक्तास्तथा संस्कृतयोऽखिलाः (प्र० पा०, पृ० ३, अङ्गिरावचन)।

६-जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते। ७-गौ० ध० (१। १। ९ भाष्यमें भी)। ८-आप० ध० (१। १। ११)।

९-आप० ध० (१। १। १२ भाष्यमें भी)।

१०-गुरोर्व्रताय वेदस्य यमस्य नियमस्य च। देवतानां समीपं वा येनासौ संविधीयते॥ (गो०गृ०ना०, ४५३)।

११-गायत्रो वै ब्राह्मणः (ऐ० १। २८)। गायत्रच्छन्दो वै ब्राह्मणः (तै० १। १। ९। ६)। ब्रह्मगायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप् (श० १। ३। ५। ५)।

होता है[१]। अतः ब्राह्मण बालकका उपनयन-संस्कार आठवें वर्षमें बतलाया गया है[२]। क्षत्रिय जातिका सम्बन्ध त्रिष्टुप् छन्दसे है[३] तथा त्रिष्टुप् छन्दका एक पाद ग्यारह अक्षरोंका होता है[४]। अतः ग्यारहवें वर्षमें क्षत्रिय बालकका उपनयन-संस्कार बताया गया है[५]। वैश्य जातिका सम्बन्ध जगती छन्दसे है[६] तथा जगती छन्दका एक पाद बारह अक्षरोंका होता है[७]। अतः बारहवें वर्षमें वैश्य बालकके उपनयन-संस्कारका काल माना गया है[८]।

तीन वर्णोंसे इन छन्दोंका सम्बन्ध भी तथ्योंपर आधारित है। गायत्री अपने गायक (उपासक)-की रक्षा (त्राण) करनेके कारण अन्वर्थ है[९]। इसी प्रकार ब्राह्मण वर्ण भी अपने सच्चे उपासक भक्तकी रक्षा कर सकता है। त्रिष्टुप् छन्दमें जिस प्रकार त्रि (तीन)-के स्तोभन करनेकी शक्ति है,[१०] उसी प्रकार क्षत्रिय वर्णमें भी राजशासनद्वारा देश, काल एवं समाज—इन तीनोंकी असद्गतिको रोकनेकी शक्ति है। जगती गततम उत्कृष्ट छन्द है[११]। वैश्य जाति भी देशकी सुस्थितिके मूलभूत कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्यके व्यवहारसे देशरक्षामें अन्तिम उत्कृष्ट सहायक है। इन सभी त्रैवर्णिकोंके लिये उपनयन-संस्कार-हेतु वर्षकी गणना गर्भस्थितिसे अथवा जन्मकालसे करनी चाहिये[१२]।

काम्यकाल—त्रैवर्णिक बालकोंके उपनयन-संस्कारके लिये क्रमसे आठ, ग्यारह एवं बारह वर्षका समय नियत किया गया है। किसी विशेष कामना-प्राप्तिकी इच्छापर शास्त्रकारोंने वैज्ञानिक ढंगसे समयका निर्धारण किया है। मनुके अनुसार ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणका पञ्चम वर्षमें उपनयन होना चाहिये। उसी प्रकार बलप्राप्तिके लिये क्षत्रियका षष्ठ वर्षमें तथा धनप्राप्तिके लिये वैश्यका गर्भकालके साथ अष्टम वर्षमें उपनयन होना चाहिये[१३]। महर्षि आपस्तम्बने सभी द्विज बालकोंके लिये ब्रह्मवर्चस्की कामनामें सप्तम वर्ष, आयुकी कामनामें अष्टम वर्ष, तेजकी कामनामें नवम वर्ष, पाचन-शक्तिकी कामनामें दशम वर्ष, इन्द्रियोंकी दृढ़ताकी कामनामें एकादश वर्ष तथा पशुकी कामनामें द्वादश वर्षका समय निर्दिष्ट किया है[१४]। विष्णुने धनकी कामनामें षष्ठ वर्ष, विद्याकी कामनामें सप्तम वर्ष, सर्वकामनाके लिये अष्टम वर्ष तथा कान्तिकी कामनामें नवम वर्षका उपनयन-काल निर्धारित किया है।

उपनयनका अन्तिम समय—सभी शास्त्रकारोंकी सम्मतिसे संस्कार्यके पञ्चम वर्षसे उपनयनका काल प्रारम्भ होता है[१५]। ब्राह्मणके लिये सोलह वर्ष, क्षत्रियके लिये बाईस तथा वैश्यके लिये चौबीस वर्षकी अवस्थातक उपनयनकी परम अवधि बतलायी गयी है[१६]। इस परमावधिके बीत जानेपर प्रायश्चित्त करनेके अनन्तर उपनयन-संस्कारका अधिकार प्राप्त होता है। यह प्रायश्चित्त राजशासन-भंगके दण्डकी भाँति प्राचीन आर्ष-मर्यादाको भंग करनेके दण्डस्वरूप है। जिस प्रकार राजदण्डके योग्य मनुष्य किसी सत्पुरुषके अधिकारों (जमानत आदि)-को नहीं रखता है, उसी प्रकार बिना प्रायश्चित्तके उसका उपनयनाधिकार नहीं माना जाता।

पूर्वपुरुषोंका उपनयन—ज्योतिर्निबन्धकी उक्तिके अनुसार अधिकारी त्रैवर्णिक यदि अपनी परमावधिके बाद भी एक वर्षके अन्तर्गत उपनयन-संस्कार नहीं कराता है तो वह वृषल होता है[१७] अर्थात् वह वृष (धर्म)-का उच्छेद करनेवाला निन्द्य है[१८]। महर्षि आपस्तम्बने अपने पूर्व-पुरुषोंके उपनयन-संस्कार न हुए रहनेपर उन कुलोंको ब्रह्महसंस्तुत[१९] (ब्रह्मघातियोंके समान) तथा श्मशानसंस्तुत[२०] (श्मशानके समान) बतलाया है। इन कुलोंमें उत्पन्न व्यक्तिको अपनी वृषलताके निराकरणके लिये वेदशास्त्रके अध्ययन एवं उपनयन-संस्कारकी इच्छा रहनेपर विशेष विधानद्वारा अधिकारी बनाये जानेकी शास्त्रोंने आज्ञा प्रदान की है[२१]। यह विशेष विधान-प्रायश्चित्त है।

१-अष्टाक्षरा वै गायत्री (श० १। ४। १। ३६)। २-आप० ध० (१। १। १९), पा० गृ० (२। २। १)।
३-त्रिष्टुप् छन्दो वै राजन्यः (तै० १। १। ९। ६)। त्रैष्टुभो वै राजन्यः (ऐ० १। २८, ८। २) आदि।
४-एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् (गो० उ० १। १८)। ५-आप० ध० (१। १। १९), पा० गृ० (२। २। २)।
६-जागतो वै वैश्यः (ऐ० १। २८), जगतीच्छन्दो वै वैश्यः (तै० १। १। ९। ७)। ७-द्वादशाक्षरपदा जगती (ष० २। १)।
८-पा० गृ० (२। २। ३), आप० ध० (१। १। १९)। ९- द्र० निरुक्त (७। १२। ५)।
१०-यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते (निरुक्त ७। ३। १२)।
११-जगती गततमं छन्दः (निरुक्त ७। ३। १३)। १२-मनु० स्मृ० (२। ३६)। १३-मनु० स्मृ० (२। ३७)।
१४-आप० ध० (१। १। २१—२६)। १५-गो० गृ० ना० (४५७)। १६-आप० ध० (१। १। २७), मनु० स्मृ० (२। ३८)।
१७-अग्रजा बाहुजा वैश्याः स्वावधेरूर्ध्वमब्दतः। अकृतोपनयाः सर्वे वृषला एव ते स्मृताः॥ (नि० सि०, १९२)।
१८-अ० को० (२। १०। १) रामाश्रयी-व्याख्या। १९-आप० ध० (१। १। ३२)। २०-आप० ध० (१। २। ५)।
२१-आप० ध० (१। १। ३४), (१। २। ६)।

प्रायश्चित्तोंमें शारीरिक एवं मानसिक शुद्धिके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपवासोंको करनेका ही मुख्य उपदेश है। अशक्तिवश या मुख्य प्रायश्चित्तकी असमर्थतापर गौण (होमादि) प्रायश्चित्तद्वारा भी अधिकार दिया जाता है। इस गौण प्रायश्चित्तका निर्णय समय, कुल, अनुपनीतता आदिके अनुसार होता है। इसका विस्तृत विवेचन धर्मशास्त्र-निबन्धोंमें वर्तमान है।

उपनयनके अधिकारी—गर्भाधानसे उपनयन एवं प्रथम विवाहतकके संस्कारोंको करनेका अधिकार संस्कार्यके पिताको ही होता है[१]। पिताकी अनुपस्थितिमें संस्कार्यके अभिभावकको संस्कार करनेका अधिकार प्राप्त होता है। शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार अभिभावकोंका क्रम भी निश्चित है,[२] जिसमें सर्वप्रथम पिताका अधिकार है। उसके बाद क्रमशः पितामह, पितृव्य, ज्येष्ठ भ्राता, सात पीढ़ियोंके अन्तर्गतके पुरुष, स्वगोत्रीय व्यक्ति तथा संस्कार्यसे ज्येष्ठ आयुवाले गोत्र-भिन्न सत्पुरुष माने गये हैं। लोक-व्यवहारमें कई जगह बालकके पिताके उपस्थित रहते हुए भी अपने कुलके बड़े पुरुषद्वारा ही बालकका उपनयन-संस्कार कराया जाता है, परंतु यह शास्त्र-समनुमत मार्ग नहीं है। यदि बालक स्वयं समर्थ हो गया हो तथा पिता आदि संनिकट-सम्बन्धियोंकी अनुपस्थिति हो तो वह बालक स्वयं ही आचार्यके पास गायत्री-सम्बन्धके लिये प्रार्थना कर सकता है[३]।

यज्ञोपवीत—उपनयन-संस्कारका प्रथम मुख्य कर्तव्य यज्ञोपवीत धारण करना है। यज्ञोपवीत, उपवीत, ब्रह्मसूत्र, यज्ञसूत्र या जनेऊ सभी पर्यायवाची शब्द हैं। उपवीत शरीरकी पेटिका (कंधेसे नाभितक)-के दो विभाग करनेवाला सूत्र है। यह सूत्र उस भागके उप=चारों ओर वीत=बँधा रहता है, अतः इसे उपवीत संज्ञा दी गयी है। इस सूत्रके बनाने एवं पहननेका प्रकार शास्त्रोंमें विशेष प्रकारसे निर्दिष्ट है। शास्त्रकारोंने बतलाया है कि उपवीत बिना पहने हुए जो कार्य किया जाता है, वह निष्फल है। अतः उपवीत सर्वदा धारण करना चाहिये[४]।

यज्ञोपवीत द्विजत्वका महत्त्वपूर्ण चिह्न है। यह चिह्न भी किसी विशेष उद्देश्यसे रखा गया है। चिह्नकी यह विशेषता आवश्यक तथा उचित है कि वह जिस समाज या देशके लिये निश्चित हो उसकी सर्वतोमुखी उन्नतिका लक्ष्यस्वरूप हो। भारतवर्षकी सर्वविध अभ्युन्नति चाहनेवाले ऋषियोंद्वारा प्रणीत शास्त्रोंमें तथा शास्त्रपर विश्वास करनेवाली आर्य-संतानोंके हृदयमें इस जगत्‌का मुख्यतम लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पदार्थोंको स्वायत्त करता रहा है। अतएव इनको 'पुरुषार्थ' शब्दसे भी व्यवहृत किया जाता है, इन चारों पुरुषार्थोंको स्वायत्त करनेके मार्ग-प्रदर्शक शासनों (नियमों)-के समूहको ही शास्त्र कहा जाता है। चतुर्विध पुरुषार्थ एवं इनके स्वायत्तीकरणके साधनोंका उपदेश वेदमें किया गया है। वेदके मन्त्र आर्योंके प्राणप्रिय भावपूर्ण शब्द हैं, इनके सम्पूर्ण भावोंको समझना प्रत्येक व्यक्तिके लिये साधारण नहीं है। अतः लोकपितामह ब्रह्माने लोकोपकारके लिये एक लाख अध्यायोंमें इन चारों पुरुषार्थोंके स्वरूप एवं प्राप्तिसाधनोंका उपदेश दिया है[५]। मानवमें इस विस्तृत उपदेशकी ग्रहण-शक्ति भी न रह सकी, तब महर्षियोंने भिन्न-भिन्न पदार्थोंको लक्ष्य करके भिन्न-भिन्न रचनाएँ कीं। स्वायम्भुव मनु आदि ऋषियोंने धर्म नामक प्रथम एवं मुख्य पुरुषार्थके लिये स्मृतिशास्त्रका निर्माण किया। स्मृतिशास्त्रमें प्रधानरूपसे धर्मका वर्णन है। इसलिये इसको धर्मशास्त्र भी कहते हैं। यज्ञोपवीतके तन्तुओंमें ही समग्र धर्मशास्त्रको सूक्ष्म-रूपसे समाविष्ट किया गया है।

बालकके नौ संस्कार उपनयनके पूर्व सम्पन्न किये जाते हैं। उपनयनके अनन्तर एवं समावर्तन-संस्कारके पूर्व अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रममें एक ही उपवीत धारण करनेका विधान बतलाया गया है[६]। इस उपवीतमें नौ तन्तु होते हैं[७], जो उस बालकके पूर्वभावी नौ संस्कारोंका स्मरण दिलाते हैं। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंके अनुसार भी यह निश्चित है

१-पितैवोपनयेत् पुत्रम् (नि० सि० १९५ पृष्ठ, प्रयोगरत्नोक्ति)।

२-पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः। उपनयेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः॥ (वी० मि० सं० प्र०, पृ० ४०७ इत्यादि।

३-वी० मि० संस्कारप्रकाश, मेधातिथिवचन (पृ० ३३६)।

४-सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च। विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्॥ (वी० मि० संस्कारप्रकाश, कात्यायनोक्ति, पृ० ४२२)।

५-लक्षं तु चतुरो वेदाः (च० व्यू०, खं० ५)। ६-उपवीतं वटोरेकम् (वी० मि० संस्कारप्रकाश, भृगुवचन, पृ० ४२१)।

७-यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतन्तुकम् (वी० मि० संस्कारप्रकाश, देवलोक्ति, पृ० ४१६)।

कि मनुष्यकी सर्वविध उन्नतिके लिये उसका उत्साह अत्यन्त सहायक होता है। यह उत्साह विशेष महत्त्वपूर्ण कर्तव्योंकी उपस्थिति या शक्तिसे दृढ़ एवं सक्रिय होता है। व्यक्तिको स्वयंकी वर्तमान शक्तिका ज्ञान हृदयमें अद्भुत बल दिलाता है। इसे हम आत्मगौरव कहते हैं। इस अपनी शक्ति या स्वरूपको न समझना ही अपने अस्तित्वको खोना होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार उपनीत वेदाध्यायी ब्रह्मचारी बालकको इन नौ तन्तुओंके उपवीतद्वारा उसके संस्कारोंकी प्रतिक्षण स्मृति दिलाकर अदम्य उत्साह दिया जाता है। ये नौ तन्तु तीन-तीन मिलकर तीन सूत्रोंमें उपस्थित रहते हैं[१]। तीन सूत्र भी नौ संस्कारोंमें किसी विशेषताके ज्ञापक हैं। वे संस्कारोंके तीन त्रिकोंमें विभक्त होनेका निर्देश करते हैं। प्राथमिक त्रिक अर्थात् गर्भाधान, पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन गर्भदशाके संस्कार हैं। द्वितीय त्रिक—जातकर्म, नामकरण एवं निष्क्रमण स्तन्यजीवनदशाके संस्कार हैं। तृतीय त्रिक—अन्नप्राशन, चूडाकरण तथा कर्णवेध अन्नाधारदशाके संस्कार हैं।

समावर्तन-संस्कारमें द्वितीय यज्ञोपवीत भी धारणीय होता है[२]। यह भी पूर्वकी भाँति विशेष स्मारक है। प्रथम सूत्रके तीन तन्तु ब्रह्मचर्य, वेदारम्भ एवं केशान्त—इन ब्रह्मचर्याश्रमके तीन संस्कारोंके द्योतक हैं। द्वितीय सूत्रके तीन तन्तु गृहस्थाश्रमके समावर्तन, विवाह एवं अग्निपरिग्रह—इन तीन संस्कारोंके निर्देशक हैं। तृतीय सूत्रके तीन तन्तुओंमेंसे एक चरम (सोलहवें) संस्कारका परिचायक है तथा अन्तिम दो तन्तु अग्निपरिग्रहके अनन्तर क्रियमाण हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ-संस्थाओंके सूचक हैं अथवा इन्हें पुरुषत्वका परिचायक भी माना जा सकता है। पुंस्त्वके प्रादुर्भाव या विकासके लिये द्वित्वकी संख्या आवश्यक है। पौरुषकी परीक्षा द्वित्व अर्थात् दूसरे प्रतिद्वन्द्वीके रहनेपर ही हो सकती है; इसी कारण स्मृतिग्रन्थोंमें पुत्रप्राप्तिके लिये युग्मरात्रियोंमें ही अभिगमनका विधान किया गया है[३]।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी परिभाषाके अनुसार यज्ञोपवीत त्रिवृत् है। त्रिवृत् नौ संख्याका बोधक है[४], परंतु त्रिवृत्की नौ संख्या तीन त्रिकोंमें ही विभक्त होनी चाहिये, जिस प्रकार यह यज्ञोपवीतमें होती है। त्रिवृत् एक स्तोम है; यह स्तोम अग्निदेवताका है[५]। अग्नि और ब्राह्मण जगद्बीज पुरुषके मुखकी सृष्टि हैं, अतः सजात हैं[६]। इस कारण अग्नि ब्राह्मणोंसे अधिक सम्बन्ध रखता है। इसे श्रुति '**आग्नेयो वै ब्राह्मणः**' द्वारा प्रतिपादित करती है[७]। ब्राह्मणको ब्रह्मवर्चसी होना चाहिये[८]। ब्रह्मवर्चस्की अग्निके साथ तुलना की जाती है। इसलिये ब्रह्मवर्चस्की प्राप्ति, अग्निकी समानता एवं त्रिवृत् स्तोमकी विशेष उपासनाकी द्योतना कराने-हेतु यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। शास्त्रोंमें इसीलिये ब्रह्मचारीको नित्य अग्निकी परिचर्याका उपदेश दिया गया है[९]। समावर्तनके बाद श्रौत एवं स्मार्त (सभ्य एवं गार्हपत्य) अग्नियोंकी नित्य स्थिति एवं उपासना होती है। इसी दृष्टिसे दूसरे यज्ञोपवीतके भी सर्वदा धारण करनेका विधान है।

यज्ञोपवीतद्वारा अर्थशास्त्रको भी परिलक्षित किया गया है। अर्थशास्त्रमें दो शास्त्रोंका संग्रह कहा जा सकता है— वार्ता तथा दण्डनीति। वार्ताशास्त्र प्रधानतया वैश्यवर्गके लिये अध्येतव्य एवं उपकारक है। वार्ताशास्त्रका विषय पशुपालन, कृषि एवं वाणिज्य है[१०]। ये तीनों ही कर्म भारतीय दृष्टिसे वैश्यवर्गकी आजीविका कहे गये हैं। वार्ताशास्त्र अर्थशास्त्रका एक विशेष सहायक प्रकरण है। आचार्य चाणक्यके अनुसार वार्ताशास्त्र अन्न, पशु, सुवर्ण, सेवक आदिकी प्राप्ति करानेके कारण राजाका उपकारक है। वार्ताशास्त्रके द्वारा राजा अपने पक्षको समृद्धि-विधायक उपायोंसे वशीभूत कर सकता है[११]। वार्ताशास्त्रके तीन मुख्यतम विषयोंका स्मरण एक यज्ञोपवीतके तीन सूत्रोंसे हो रहा है। द्वितीय यज्ञोपवीत अर्थशास्त्रके दूसरे प्रकरण दण्डनीतिकी तीन सिद्धियोंका स्मारक है। इन तीनों सिद्धियोंकी पूर्णप्राप्तिका समुचित उपाय ही दण्डनीतिमें बतलाया गया है अथवा लोकस्थितिके लिये राजाद्वारा निर्णेतव्य अष्टादश विवादस्थानोंको यज्ञोपवीतके अठारह तन्तुओंद्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

कामशास्त्रके रहस्य-परिचायनकी दृष्टिसे भी एक यज्ञोपवीत पुरुष एवं दूसरा स्त्रीके शासनोंका उपदेशक है। वात्स्यायनके अनुसार पुरुष एवं स्त्रीके प्रमाण, भाव एवं

१-अधोवृत्तैस्त्रिभिः सूत्रैः (वी० मि० संस्कारप्रकाश, दत्तात्रेयवचन, पृ० ४१६)।
२-स्नातकानां द्वितीयं स्यात् (वी० मि० संस्कारप्रकाश, वसिष्ठवचन, पृ० ४२१)।
३-मनु० स्मृ० (३। ४८)। ४- जै० न्या० मा० (१। ३। ५)। ५-अग्निर्वै त्रिवृत् (तै० १। ५। १०। ४)।
६-मा० सं० (३१। ११-१२)। ७-तै० (२। ७। ३। १)। ८-मा० सं० (२२। २२)।
९-अग्नीन्धनं भैक्षचरणे (गौ० ध० १। २। १२)। १०-कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता (कौ० अ० ४। १)।
११-धान्यपशुहिरण्यपुष्पविष्टिप्रदानादौपकारिकी। तया स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम् (कौ० अ० ४। २-३)।

काल—ये तीन प्रासंगिक वर्ग होते हैं। प्रत्येक वर्गमें भी तीन अवान्तर भेद हैं। प्रत्येक वर्ग सूत्ररूपसे तथा उनके भेद तन्तुरूपसे यज्ञोपवीतमें द्योतित होते हैं। इस दृष्टिमें सम्पूर्ण यज्ञसूत्रकी ९६ चतुरङ्गुल दीर्घता (चौवा) भी, वात्स्यायन-प्रोक्त आठ अङ्गोंके भेदोंका परिचायक है।

उपर्युक्त गवेषणासे यह स्पष्ट है कि यज्ञोपवीत भारतीय संस्कृतिकी समग्रताका पूर्ण परिचायक है।

गायत्री-उपदेश—उपवीत धारणके अनन्तर बालकका अभिभावक उसे योग्य गुरुकी शरणमें पहुँचा देता है। गुरु उसे योग्य अधिकारी समझकर गायत्री-मन्त्रका उपदेश करते हैं। बालक अपनी योग्यताकी परीक्षा गुरुकुलमें संरक्षणसे लेकर एक वर्षके भीतर समाप्त कर लेता है। यदि गुरु उसे गुरुकुलमें जानेके समय ही मन्त्रोपदेशका अधिकारी समझ लेते हैं तो उसी समय गायत्री-मन्त्रका उपदेश कर देते हैं। अन्यथा तीन दिन, छः दिन, बारह दिन या छः मास अथवा बारह मासमें उसे उपदेश प्राप्त होता है। उपनयनका शुभ मुहूर्त ज्योतिषशास्त्रद्वारा निश्चित किया जाता है। तदनुसार शुभ लग्नमें गायत्री-मन्त्रका उपदेश दिया जाता है। संस्कारके अन्य कार्य अङ्गभूत हैं। अतः उनमें विशेष रूपसे लग्नका विचार नहीं किया जाता।

मन्त्रपरिचय—शुभ लग्नमें योग्य गुरुद्वारा परीक्षित शिष्यको जो मन्त्र नामक अक्षर-समुदाय प्राप्त होता है, वह विशेष शक्तिसे सम्पन्न होता है। उसी मन्त्रको पुस्तकोंमें देखकर, असमयमें ग्रहण करके या गुरुसे प्राप्त कर अभ्यास किया जाय एवं अनुष्ठान आदि वैध प्रयोग किये जायँ तो वे शास्त्रोंके दृढ़ सिद्धान्तके अनुसार कल्याणकारक नहीं हो सकते। क्रियासारमें बतलाया गया है कि जो मूर्ख मनुष्य प्रयोगपद्धतिसहित मन्त्रको पुस्तकसे देखकर उसके आधारपर ही जप करता है, उसके मूलका ही नाश होता है। फलकी बात ही दूर है[1]। भगवान् शङ्करका वचन है कि जो अज्ञ गुरुके उपदेशके बिना ही पुस्तक, चित्र आदिको देखकर जप करता है, वह बन्धन एवं पापका भागी बनता है[2]।

जिस प्रकार पदपर आसीन अधिकारीद्वारा प्रदत्त वैध आदेश या उपदेश ही माननीय एवं करणीय होता है, उसी प्रकार शास्त्रोक्त निश्चित योग्य ब्राह्मण गुरुद्वारा उपदिष्ट मन्त्र एवं आदिष्ट विधान ही कल्याणकारक होता है। जैसे अनधिकृत व्यक्तिका अवैध आदेश या उपदेश लोकमें भी आदरणीय या अनुशीलनीय नहीं होता एवं स्वतन्त्र कर्तव्य लोकहितकारक होनेपर भी शासन-नियमके बहिर्भूत होनेके कारण लाभप्रद न होकर कष्टप्रद ही होता है, उसी प्रकार शास्त्रोक्त अनधिकृत ब्राह्मणेतर व्यक्ति या पुस्तकादिसे उपदिष्ट प्राप्त मन्त्र भी अनादरणीय एवं अनुशीलनीय होते हैं। शास्त्रमर्यादाके व्यतिक्रम करनेके कारण मन्त्रदाता एवं ग्रहणकर्ताके लिये लाभ-प्राप्तिके स्थानपर हानिप्रद ही है। मन्त्रोपदेश करनेका अधिकार ब्राह्मणको ही है। इसके लिये शास्त्रोंमें सर्वत्र निर्देश दिये गये हैं[3]।

उपनयनका वर्तमान स्वरूप—उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतमें शिक्षण-व्यवस्थाको महनीय बनाने-हेतु उपनयन-संस्कारकी भावात्मक विशिष्ट व्यवस्था की गयी थी। उपनयन एवं तदनन्तर ब्रह्मचर्याश्रमद्वारा अध्येतामें तेजस्विता, बुद्धि एवं ज्ञानका पर्याप्त विकास होता था। वर्तमान समयमें उपनयन-संस्कारकी व्यवस्था समाप्त हो चली है। किन्हीं-किन्हीं आस्तिक कुलोंमें बालकका उपनयन-संस्कार किसी तीर्थक्षेत्रमें जाकर अथवा घरमें ही सम्पन्न कराया जाता है, परंतु ब्रह्मचर्याश्रममें बालकको रखनेकी परम्परा मूलरूपसे विच्छिन्न हो चुकी है। उपनयन-संस्कारमें यज्ञोपवीत-धारण एवं गायत्री-उपदेशके अनन्तर तत्काल समावर्तन-संस्कार कराकर बालकका गृहस्थाश्रममें प्रवेश करा दिया जाता है। युगके परिवर्तित परिवेशमें यह उचित ही है। भविष्यको ध्यानमें रखते हुए शास्त्रकारोंने इसे अनुमति भी दी है[4]। भारतीय त्रैवर्णिक यदि उपनयनके वर्तमान स्वरूपका भी निर्वाह कर सकें तो उन्हें प्राचीन संस्कृतिकी रक्षाका विशिष्ट श्रेय प्राप्त होगा।

१-कल्पे दृष्ट्वा तु यो मन्त्रं जपते तु विमूढधीः। मूलनाशो भवेत् तस्य फलमस्य सुदूरतः॥ (स०स० ५१४)

२-गुरुं विना यस्तु मूढः पुस्तकादिविलोकनात्। जपेद् बन्धं समाप्नोति किल्बिषं परमेश्वरि॥ (स०स० ५१४)

३-द्रष्टव्य—नि० सि०, पृ० १९५।

४-(क) युगे युगे तु दीक्षासीदुपदेशः कलौ युगे। चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते॥ (ध० सि०, पृ० १८८)

(ख) अनुपाकृतवेदस्य कर्तव्यो ब्रह्मयज्ञकः। वेदस्थाने तु सावित्री गृह्यते तत्समा यतः॥ (नि० सि०, पृ० १९७, जैमिनि)।